ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक बहुत बड़ा रहस्य है। ब्रह्माण्ड का मूल सृजनकर्त्ता ब्रह्म है जिसे वेदों पुराणों एवं ब्राह्मणः उपनिषद्, आरण्यक आदि सभी ग्रन्थों में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा गया है। ब्रह्म से लेकर ब्रह्माण्ड के अस्तित्व में आने तक 18 अवस्थाएँ होती हैं। इसका मुख्य प्रमाण हमारा पुराण वाङ्मय है, जहाँ ब्रह्म को प्रथम पुराण के रूप में तथा ब्रह्माण्ड को अन्तिम पुराण के रूप में स्थान दिया गया है। ये अठारह पुराण ब्रह्माण्ड की आविर्भावमूलक 18 अवस्थाओं के ही द्योतक हैं, जिनमें गूढ वेदार्थ के माध्यम से इस वैज्ञानिक विषय को समझाया गया है, किन्तु अल्पज्ञ होने से सामान्य प्राणी उस ज्ञान को ग्रहण नहीं कर पाता, तथापि भगवान् वेद ने इस विषय के जो संकेत किये हैं, उनसे इस रहस्य का पटाक्षेप भी हो जाता है। अस्तु यहाँ क्रमशः उन अवस्थाओं को दर्शाया जा रहा है, जिनसे हमारे ब्रह्माण्ड का आविर्भाव सम्भव होता हैः-

(1) स्वयम्भूमण्डल

ब्रह्माण्ड विद्यमान नहीं रहता उस अवस्था का नाम महाप्रलय है। इस अवस्था में ब्रह्म भी अणीयान् परिमाण वाला हो जाता है। इस रूप में स्वयं अपनी सत्ता का द्योतक होने से वह अणीयान् ब्रह्म स्वयम्भू कहा जाता है। यह स्वयम्भू अणीयान् ब्रह्म अपनी अन्तःप्रकृति से आवृत्त होता है तथा वह अन्तःप्रकृति भी इस स्वयंभू ब्रह्म की भाँति ही उस समय अव्यक्त अवस्था में होती है, जिसे मूल प्रकृति भी कहा गया है। ब्रह्म की इस अव्यक्त अन्तः प्रकृति का स्वरूप मण्डलाकार होता है, अतः अव्यक्त अन्तः प्रकृतियुक्त उस अणीयान् ब्रह्म का जो क्षेत्र है, वह स्वयम्भूमण्डल कहलाता है। इसे ही सत्यलोक के नाम से कहा गया है। स्वयम्भूमण्डल में विद्यमान् अणीयान् ब्रह्म का परिमाण एक परमाणु के 960 वें भाग के बराबर होता है, अतः उसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभव नहीं किया जा सकता, न ही किसी भी प्रकार के यन्त्रों से देखा जा सकता है। इस स्वयम्भूमण्डल में विद्यमान अणीयान् ब्रह्म से ही सुविस्तृत ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है।

(2) चिन्मण्डल का आविर्भाव

स्वयम्भू अणीयान् ब्रह्म एक मात्र सत् होने से अपनी सत्ता को बनाये रखता है। उसकी अन्तःप्रकृति को ही चित् कहा गया है। चित् ही इस स्वयम्भू अणीयान् ब्रह्म की वह शक्ति है, जिससे वह स्वयं शक्तिसहित व्यक्त हो जाता

है। यह चित् वृत्तिमय होता है, अतः जैसे जल में स्वतः लहरों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है, ठीक वैसे ही ब्रह्म की उस चित् संज्ञक अन्तः प्रकृति में वृत्तियों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। इससे स्पन्द की उत्पत्ति होती है अतः जैसे हमारा हृदय धड़कता है अथवा हमारी नाड़ी धड़कती है वैसे ही वह अणीयान् ब्रह्म अन्तःप्रकृतिवश स्पन्द का आभास करने लगता है, इससे स्वयम्भूमण्डल के भीतर ही एक अन्य मण्डल का निर्माण हो जाता है, जिसे चिन्मण्डल कहा गया है।

ब्रह्म के पश्चात् यह द्वितीय अवस्था है। इसे ही महत् या बुद्धि भी कहा गया है। महत् का आशय यह है कि अणीयान् ब्रह्म इस अवस्था से अणुपरिमाण को त्याग कर महत् परिमाण की ओर अग्रसर होता है। क्योंकि चिन्मण्डल के आविर्भाव होते ही स्वयंभूमण्डल का परिमाण बढ़ जाता है। चिन्मण्डल वाक् के सूक्ष्म परमाणुओं का संघात है, जिसमें स्पन्द की ध्वनि का आभास होने लगता है। इसे ही नाद ब्रह्म भी कहा गया है। अनहद नाद के रूप में योगीजन भी इसका अनुभव अपने पिण्ड (शरीर) में करते हैं।

(3) वैद्युत् मण्डल का आविर्भाव

चिन्मण्डल में विद्यमान् वाक् के सूक्ष्म परमाणुओं में स्वयंभू अणीयान् ब्रह्म के संसर्ग से कुछ परमाणु धनात्मक आवेश को प्राप्त करते हैं तथा उसकी अन्तः प्रकृतिस्वरूपा चित् शक्ति के संसर्ग से कुछ परमाणु ऋणात्मक आवेश को प्राप्त कर लेते हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है। धीरे धीरे वाक् के उन धनात्मक एवं ऋणात्मक सूक्ष्म परमाणुओं में संघर्ष होता है तथा उनके आपस में टकराने से विद्युत् उत्पन्न होती है, जो अग्नि के सूक्ष्म परमाणुओं को उत्पन्न करती है। तत्पश्चात् वे अग्नि के सूक्ष्म परमाणु भी अपना आयतन बनाने लगते हैं और इससे उस चिन्मण्डल के अन्तर्गत ही एक और नये मण्डल का आविर्भाव हो जाता है, जिसे वैद्युत् मण्डल कहा जाता है।

इस वैद्युत् मण्डल का ही अपर नाम तपोलोक है। इसे अग्निलोक भी कहा जाता है। इस अवस्था में अणीयान् ब्रह्म अग्निमय स्वरूप में परिणत हो जाता है, जिसे प्रजापति अथवा ब्रह्मा नाम से भी कहा गया है। इसी वैद्युत् मण्डल में अग्नि के सूक्ष्म परमाणुओं के संश्लेष से वही ब्रह्म जो प्रजापति या ब्रह्मा के रूप में परिणत हुआ था, अन्ततः सविता के रूप में परिणत हो जाता है। यह सविता हमारे दृश्यमान सूर्य की भाँति ही स्व-स्वरूप में परिणत हो जाता है। यही ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है, इसे ही अक्षर ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि सृष्टि की प्रलयावस्था में भी यह नष्ट नहीं होता।

(4) वारुणमण्डल का आविर्भाव

वैद्युत्मण्डल में विद्यमान आग्नेय परमाणुओं से अस्तित्व को प्राप्त हुए ब्रह्म सविता के ताप से उष्मा प्रकाश

एवं रश्मि का आविर्भाव होता है। इन्हें ही वेद में क्रमशः आयुः ज्योतिः एवं गौ कहा गया है। उष्मा की अधिक वृद्धि से जलीय परमाणु अस्तित्व को प्राप्त करते हैं। जैसे अधिक ताप होने पर हमाने शरीर में पसीने का आविर्भाव होता है वैसे ही सविता के ताप से इन जलीय परमाणुओं का आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् जैसे जैसे वे जलीय परमाणु वृद्धि को प्राप्त करते हैं, तो वे भी अपना आयतन बनाने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वैद्युत्मण्डल के अन्तर्गत ही एक और नये मण्डल का आविर्भाव हो जाता है, जिसे वारुणमण्डल कहा जाता है।

इस वारुणमण्डल का ही अपर नाम वरुणलोक या जनलोक है, क्योंकि इस वारुणमण्डल के आविर्भाव के पश्चात् ब्रह्म की चित् शक्ति में जननक्षमता उत्पन्न हो जाती है तथा ब्रह्म के सत्त्वगुणातिरिक्त रजस् एवं तमस् गुणों का भी आविर्भाव हो जाता है तथा मूलप्रकृति के रूप में वह चित् शक्ति भी अपने अस्तित्व को प्राप्त कर लेती है। अर्थात् त्रिगुणात्मिका हो जाती है। उसके संश्लेष से सविता के रूप में विद्यमान ब्रह्म में भी आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामतः वह सविता अपनी रश्मियों से चिन्मण्डल एवं वैद्युत् मण्डल के परमाण्वीय सूक्ष्मांशों का तथा अपने अन्तःस्थ परमाण्वीय सूक्ष्मांशों का आदान-प्रदान करने लगता है। चूँकि त्रिगुणात्मिका होने पर भी मूल प्रकृति का सम्बन्ध अविखण्डित रूप में स्वयम्भूमण्डल, चिन्मण्डल एवं वैद्युत्मण्डल से बना रहता है, अतः उसे ही अदिति (अर्थात् अविखण्डनीय सम्बन्ध वाली) कहा गया है।

वारुणमण्डल में विद्यमान् जलीय परमाणुओं में कुछ परमाणु तमस् से ग्रसित हो जाते हैं, अतः वे मादकता को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें ही 'कश्य' कहा जाता है। सविता सत्त्वाधिक्य के कारण उन पर अपनी रश्मियों से आघात करता है तथा उन्हें सोख लेता है। उनका पान करने के कारण सविता का ही अपर नाम कश्यप है।

(5) सोममण्डल का आविर्भाव

जब सविता वैद्युत् मण्डल से धनात्मक आवेश वाले सूक्ष्म आग्नेय परमाणुओं को आकृष्ट करता है, और उनका संयोग जैसे ही सत्त्वप्रधान सूक्ष्म जलीय परमाणुओं से होता है, तो वे अमृताग्नि के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह अमृताग्नि ही सोम है, जिसका सूर्यरश्मियाँ निरन्तर पान करती रहती हैं और शाश्वत जीवनी शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। इस अमृताग्नि ने भी वारुणमण्डल के अन्तर्गत अपना आयतन बनाना आरम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप एक नये मण्डल का निर्माण हुआ जिसे सोममण्डल कहते हैं। अमृताग्नि का ही अपर नाम चन्द्रा है, तथा अमृताग्नि की सूक्ष्म रश्मियों के संघात से चन्द्रमा का आविर्भाव भी इसी मण्डल में हुआ था, अतः इसे चन्द्रलोक भी कहा जाता है।

सविता एवं चन्द्रमा के तेजोमय प्रकाश से आप्लावित होने के कारण इसे ही महर्लोक भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ तक तमस् की अल्पता रहती है तथा उसे सविता द्वारा ग्रहण कर लिये जाने के कारण सदैव प्रकाश (मह

अथवा तेज) ही विद्यमान रहता है, जो इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सृष्टि (विश्व) की उत्पत्ति के निमित्त सविता की रश्मियों के रूप में विद्यमान देवगण यहीं प्राकृत यज्ञ का प्रारम्भ करते हैं। सोम द्वारा होने वाले स्नेहन के परिणामस्वरूप अध्यात्म अधिभूत एवं अधिदैवत अग्नि का संगतिकरण प्रारम्भ होता है, यही यज्ञ का प्रथम सोपान है। इसमें सोम पुरोडाश रूप हवि पदार्थ होता है तथा अमृताग्नि ही अध्यात्म अधिभूत एवं अधिदैवत नामक तीन रूपों में परिणत हो जाता है। सविता की रश्मियाँ इनकी संगति कर सोमरूपी संश्लेषण द्रव्य को ग्रहण करती हैं। इस प्राकृत यज्ञ का परिणाम ही नाक (स्वर्लोक) है, जो महर्लोक से नीचे संस्थित है।

(6) भास्करमण्डल का आविर्भाव

जब सविता वैद्युत् मण्डल से ऋणात्मक आवेश वाले सूक्ष्म आग्नेय परमाणुओं को आकृष्ट करता है, तब उनका संयोग जैसे ही रजस् से प्रभावित सूक्ष्म जलीय परमाणुओं से होता है, तो वे मर्त्याग्नि के रूप में परिणत हो जाते हैं, यह मर्त्याग्नि ही वागग्नि भी कही जाती है, क्योंकि इसे प्राप्त कर अव्यक्त वाक् भी व्यक्त होने लगती है। इसी मर्त्याग्नि या वागग्नि के सूक्ष्म परमाणु जब अपना आयतन बनाने लगते हैं, तो सोममण्डल के भीतर ही एक नये मण्डल का अविर्भाव हो जाता है, जिसे भास्करमण्डल कहते हैं।

यह मण्डल भी सोममण्डल की भाँति ही सदैव प्रभामय रहता है। नाक (स्वर्लोक) में विद्यमान सविता की रश्मियाँ जब इस मर्त्याग्नि या वागग्नि को ग्रहण करती हैं, तो उनमें ध्वनित होने की शक्ति आ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप ओंकारात्मक वेद का अविर्भाव होता है। भास्करमण्डल में उत्पन्न होने वाली यह वेदध्वनि ही आद्य ध्वनि है। इसमें वाक् का स्वरूप अग्नि से पृथक्करण के परिणामस्वरूप तीस रूपों में विभक्त हो जाता है, अतः इसे त्रिंशद्धामा भी कहा गया है। इस त्रिंशदधामा वाक् से व्यक्त वेद का श्रवण ही कालान्तर में ऋषियों का होता है। यह आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि ऋषि भी आग्नेयप्राण के रूप में विद्यमान होने से वेदवाक् को धारण करने में सर्वाधिक समर्थ होते हैं। ध्वनि या वाक् के शब्दरूप में व्यक्त होने से इसे ही आकाशमण्डल भी कहते हैं।

(7) भृगुमण्डल का अविर्भाव

भास्करमण्डल में आविर्भूत होने वाली ध्वनिमयी रश्मियों में सविता के आकर्षण के परिणामस्वरूप तथा सविता की रश्मियों के आकर्षण क्षेत्र की परिधि से बाहर हो जाने के कारण जो सूक्ष्म तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, उन सूक्ष्म तरङ्गों के विस्तार के साथ ही सूक्ष्म वायवीय कणों का आविर्भाव होता है। ध्वनि का आधायक होने से एवं गतिशील रहने के कारण ये तरङ्गें भी भास्करमण्डल के अन्तर्गत ही अपना मण्डल बना लेती हैं, जिसे भृगुमण्डल कहा गया है। इसका ही दूसरा नाम वायुलोक या वायुमण्डल भी है। वायु के कारण इन तरङ्ग में भार होता है और ये नीचे भी गमन

करने में समर्थ होती है। इनके महत्वपूर्ण कार्य हैंः- गुरुत्व बल का नियन्त्रण करना, विद्युत् बल का प्रतिनिधित्व करना, घर्षण बल के द्वारा अपनी रक्षा करना, अपने मण्डल में प्रवेश करने वाली रश्मियों को एक सुनिश्चित गति प्रदान करना अर्थात् उन्हें कालचक्र एवं कर्म चक्र में आबद्ध कर देना।

(8) भूमण्डल का आविर्भाव

भृगुमण्डलीय तरङ्गों में धीरे धीरे गुरुत्व बल का आविर्भाव होता है अतः वे भास्कर मण्डल की कतिपय रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगती हैं। जब तरंगों से इन रश्मियों का संयोग होता है, तो तरंगों के घर्षण बल से तथा रश्मियों के विखण्डन से सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजः कणों का आविर्भाव होता है। ये रजः कण उन तरङ्गों से ध्वनि को तो ग्रहण नहीं करते, किन्तु वायु को ग्रहण लेते हैं, जिसमें अव्यक्त रूप से ध्वनि विद्यमान होती है। वायवीय परिवेश में विद्यमान ये रजःकण भी जब अपना आयतन पृथक् रूप से बना लेते हैं, तो उसे भूमण्डल कहा जाता है। यह भूमण्डल भृगुमण्डल के भीतर ही अवस्थित होता है। इसे पृथ्वी नहीं समझना चाहिए, यह तो ब्रह्माण्ड के मध्य में मण्डलाकृति पर्त्त के रूप में अवस्थित हो जाता है। इस भूमण्डल के भीतर का जो शून्य स्थान होता है, उसमें ही कालान्तर में द्यावापृथिवी (आकाश एवं पृथ्वी) उत्पन्न होते हैं। पूर्व में विखण्डित रश्मियों की अग्नि इन रजःकणों में विद्यमान होती है, जो कालान्तर में विकृत होकर उत्सर्जित होती है और जिसके परिणामस्वरूप चुम्बकीय बल उत्पन्न होता है, जिसमें ये रजः कण उस चुम्बकीय बल को प्राप्त कर पर्याप्त सुदृढ हो जाते हैं, अतः ब्रह्माण्ड के मध्यभाग की इस पर्त्त का भेदन सहज नहीं होता तथा इसी कारण यह पृथ्वी आग्नेयी भी कही जाती है।

(9) द्यौः (आकाश महाभूत) का आविर्भाव

द्यौः महर्लोक से नीचे की ओर आने वाली प्रचिताभ नामक रश्मियों का परिणाम है। जब भूमण्डलीय तरङ्गों में चुम्बकीय बल का तथा भृगुमण्डलीय तरङ्गों में गुरुत्व बल का आधिक्य हो जाता है, तो ये तरङ्गें अपने ऊपर संस्थित भास्करमण्डल से भी ऊपर विद्यमान सोममण्डल की रश्मियों तक को आकृष्ट करने लगती हैं। इन्हें सोममण्डल से प्रचिताभ नामक रश्मियाँ प्राप्त होती है। ये रश्मियाँ जब भूमण्डल में प्रवेश करती हैं, तो वहाँ तमस् को आविर्भूत करने वाली असुर नामक रश्मियों के संसर्ग वश अभास्वर हो जाती हैं। ये अभास्वर प्रचिताभ नामक रश्मियाँ भूमण्डल के ऊर्ध्वभाग में ही अपना आयतन बनाती हैं, जिसे द्यौः कहा जाता है। सूर्य के आविर्भाव के पश्चात् यह द्यौः अपने अभास्वर स्वरूप से मुक्त हो जाता है तथा अपने द्यौः नाम को सार्थक करने लगता है। द्यौः के तीन क्षेत्र हैं - उदन्वती, पीलुमती एवं प्रद्यौः। उदन्वती सुर नामक रश्मियों का आश्रय है, पीलुमती ऋषियों का आश्रय है तथा प्रद्यौ पितरों का आश्रय है।

(10) वायु का आविर्भाव

जिस प्रकार द्यौः के निर्माण में प्रचिताभ नामक रश्मियों की सर्वाधिक भूमिका रहती है, ठीक वैसे ही भूमण्डलीय वायु के निर्माण में अञ्जनाभ नामक रश्मियों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। ये रश्मियाँ भी महर्लोक से ही द्यौः के निर्माण के पश्चात् भूमण्डलीय तरङ्गों द्वारा आकृष्ट की जाती है। भृगुमण्डल से मरुतों का भी आकर्षण इन तरङ्गों द्वारा किया जाता है, अतः इनके गति एवं प्रवाह में अत्यन्त प्रबलता हो जाती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण द्यौः वायु से आपूरित हो जाता है। भूमण्डलीय वायु में विद्यमान मरुत् नामक रश्मियों के अनेक कार्य हैं, जैसे सूर्य-रश्मियों के साहचर्य से भूमण्डलीय जल का अवशोषण करना, सूर्यादि ग्रहों में गुरुत्व बल को उत्पन्न करना, सजीवों में ध्वनि के अभिव्यक्तिकरण का सामर्थ्य उत्पन्न करना इत्यादि। इसी प्रकार अञ्जनाभ नामक रश्मियों का एक महत्वपूर्ण कार्य है, बाह्यप्रकृति के परिणमन में सहयोग प्रदान करना। मरुत् नामक रश्मियाँ ही द्यौः में विद्यमान पृश्नि नामक रश्मियों के साहचर्य से सोम के पक्वीकरण की क्रिया को सम्पन्न करती हैं।

(11) अग्नि का आविर्भाव

अग्नि का आविर्भाव प्रतर्दन नामक रश्मियों के द्वारा सम्भव होता है। ये रश्मियाँ भी भूमण्डलीय तरंगों द्वारा महर्लोक से ही प्राप्त की जाती हैं। प्रतर्दन नामक रश्मियाँ जब अञ्जनाभ नामक रश्मियों से संघर्ष करती हैं, तो उनके पारस्परिक घर्षण से अग्नि नामक महाभूत का निर्माण होता है। मरुतो के सम्पर्क से अग्नि में दीप्ति उत्पन्न होती है, जिससे उसका पार्थिव स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यह अग्नि तीन मूर्धाओं वाला कहा गया है। अपनी प्रथम मूर्धा से यह सूर्य में स्थित सोम का पक्वीकरण करता है। दूसरी मूर्धा से सूर्य में परमाण्वीय विस्फोट का कार्य करता है। तीसरी मूर्धा से सूर्यरश्मियों में प्रकाश का आधान करता है। द्यौ में विद्यमान अग्नि के तीन स्थान होते हैंः- प्रथम स्थान वायु में, द्वितीय स्थान सूर्य में तथा तृतीय स्थान पर्जन्य में। वायु में वह अग्नि अदृश्य रहता है, सूर्य में उष्मा का कारक होता है तथा पर्जन्य में विद्युत् का उत्पादक होता है।

(12) अप् (महाभूत) का प्रादुर्भाव

भूमण्डलीय अप् का प्रादुर्भाव ऋभु नामक उन रश्मियों से होता है, जो सोममण्डल से द्यौः में प्रवेश करती हैं। भूमण्डलीय तरंगों द्वारा आकृष्ट की गयी ये रश्मियाँ उन मरुतों से सम्पर्क करती हैं, जो पूर्व में इन तरङ्गों के आकर्षण से यहाँ विद्यमान होते हैं। मरुतों के सम्पर्क से इन ऋभु नामक रश्मियों के अन्तस् में स्थित सोम द्रवित होने लगता है। सोम का द्रवित रूप ही जल है, जिसे 'अप्' संज्ञा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इसी अप् को प्राप्त कर द्यौ का एक भाग उदन्वान् (जलमय) हो जाता है, जिसे उदन्वती द्यौः कहा गया है। इसी अप् को भूमण्डल अपने गर्भ में धारण

कर लेता है जिससे कालान्तर में समुद्रों का आविर्भाव होता है। कालान्तर में पर्जन्य भी इस अप् को ग्रहण करता है तथा सुषुम्ण रश्मियों के संसर्ग से वसिष्ठ प्राण के सूक्ष्म परमाणुओं को पर्जन्यस्थ अप् ग्रहण करता है, जिससे वनस्पति का उत्पादन सम्भव होता है तथा कालान्तर में प्राणियो में उसी (अन्नादि) के भक्षण से वीर्यादि का निर्माण होता है। यही अप् पर्जन्य से वैद्युताग्नि को भी ग्रहण कर लेता है, जो कालान्तर में वाडवाग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

(13) पृथ्वी (महाभूत) का आविर्भाव

भूमण्डल के अधोभाग में जब अप् पर्याप्त मात्रा में एकत्र हो गया, तब वह अप् सूर्यरश्मियों का अभाव होने से तथा वैद्युताग्नि की भी अविद्यमानता के कारण एक मात्र सुषुम्ण रश्मियों के प्रभाव से भूमण्डलीय रजः कणों में पिण्डीभाव को उत्पन्न करने लगा। यद्यपि रजःकणों में अव्यक्त आग्नेय परमाणु विद्यमान थे, तथापि सोम की व्यक्तता केकारण वे निष्प्रभावी थे, अतः रजःकणों द्वारा सुविस्तृत पिण्ड का रूप ग्रहण कर लिया गया, जिसे पृथ्वी कहा गया। पृथ्वी के आविर्भाव के पश्चात् भी द्यौ में अप् का निरन्तर उत्पादन होते रहने से पृथ्वी को भी अप् की प्राप्ति होती रही अतः अप् का आधिक्य हो गया तथा द्यौः के रिक्त स्थान में जहाँ रजःकण नहीं थे, वहाँ केवल अप् का अधिकार हो गया, जिससे पृथ्वी के चारों ओर अप् की ही विद्यमानता सम्भव हुई। अतः अप् एवं पृथ्वी के निर्माण में प्रक्रियागत अन्तर होते हुए भी यह भ्रम होता है, कि पृथ्वी का आविर्भाव समुद्र से हुआ है, जबकि ऐसा नहीं है।

(14) अदिति एवं आदित्यो का आविर्भाव

पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति के अनन्तर बाह्यप्रकृति का आविर्भाव होता है, जिसे अदिति कहा गया है। वह अदिति इस कश्यप रूप ब्रह्माण्ड में पहले अव्यक्त रहती है, किन्तु द्यावापृथिवी के आविर्भाव के अनन्तर व्यक्त होने लगती है। उस अदिति के बाह्य रूप में अभिव्यक्त होने पर पंचमहाभूतों की तन्मात्रायें शब्द स्पर्श रूप रस एवं गन्ध भी अभिव्यक्त होने लगते हैं। तन्मात्राओं की अनुभूति उस द्यावापृथिवी के भीतर विद्यमान रश्मियों को होने लगती है, किन्तु प्रकाश के अभाव में अदिति स्वयं अपने को भी पंगु जैसा अनुभव करती है। वह प्रकाश की अपेक्षा से बारह गैसीय द्रव्यों की उत्पत्ति करती है, जो द्वादश आदित्य कहे जाते हैं। इनके नाम हैं इन्द्र, धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, पर्जन्य, अर्चि, विवस्वान्, त्वष्टा एवं विष्णु।

(15) वसुओं एवं रुद्रों की उत्पत्ति

पार्थिव अग्नि जो द्यौ में विद्यमान थी उसका पूषा सोम एवं पर्जन्य से सम्पर्क होने पर वसुओं की उत्पत्ति हुई। ये वसु आठों दिशाओं के अधिकारी होते हैं। दिशाओं में पृथक् पृथक् स्थित हो कर उन्होंने द्यौः को अपने द्वारा आच्छादित कर दिया। इसी प्रकार जब द्यौ में विद्यमान पार्थिव वायु, जो मरुत् नामक रश्मियों से युक्त था, का संयोग

पृश्नि (वाक्) धाता, अर्चि एवं विवस्वान् से होता है, तो रुद्रों की उत्पत्ति होती है। रुद्र यद्यपि अनन्त हैं, किन्तु उनमें गणाधिपति रुद्र एकादश माने गये हैं। इनके नाम हैं- अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, त्वष्टा, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सावित्र, जयन्त एवं पिनाकी। ये ही कालान्तर में सजीवोत्पत्ति होने पर प्राणियों में एकादश इन्द्रियों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। जब सूर्य का आविर्भाव होता है, तो ये वसु एवं रुद्र आदित्यों के साथ ही सूर्य में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।

(16) सूर्य ग्रह नक्षत्र एवं तारा इत्यादि का प्रादुर्भाव

द्यौ में विद्यमान द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र जब महर्लोक में सम्पन्न प्राकृत यज्ञ से निष्पन्न सहस्र रश्मियों से युगपत् संसर्ग करते हैं, तो सूर्य का प्रादुर्भाव होता है। आदित्यों की प्रधानता के कारण 'प्राधान्येन तद्वादस्तद्वादः' न्याय से सूर्य को आदित्य भी कहा गया है। यह सूर्य इन्द्र से ऐन्द्रिक शक्तियों को, धाता से आकृति को, भग से लावण्य (तेजस्विता) को, पूषा से बल को, मित्र से प्राणशक्ति को, वरुण से प्रकाश को, अर्यमा से गति को, अर्चि से दाहकता को, विवस्वान् से नियन्त्रणशक्ति को, पर्जन्य से आकर्षण को, त्वष्टा से बाह्यमण्डल को, विष्णु से व्यापकत्व को तथा प्रजापति से प्रजननशक्ति को अर्जित कर स्वयं सर्वशक्तिसम्पन्न बन जाता है। इसी क्रम में कालान्तर में वसुओं से वृद्धिकारकत्व को तथा रुद्रों से संहारकत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस सूर्य के आविर्भूत होते ही तमस् का समूल विनाश हो जाता है। सूर्य के पश्चात् क्रमशः बृहस्पति, शनि, चन्द्र, बुध, शुक्र एवं मंगल की उत्पत्ति होती है। नक्षत्र एवं ताराओं का आविर्भाव सूर्य की उत्पत्ति के साथ ही आरंभ हो जाता है। ताराओं में जो स्थिर हो जाते हैं, वे नक्षत्र कहलाते हैं। ये नक्षत्र भी ग्रहों की भाँति ही सूर्यरश्मियों को ग्रहण करने लगते हैं।

(17) पर्वतों नदियों एव वनस्पति का आविर्भाव

खगोल की परिपूर्णता के अनन्तर भूगोल अस्तित्व में आता है। सविता से आने वाली कुमुद नामक रश्मियाँ काश्य रश्मियों से मिल कर भूतसृष्टिबीजों से संपर्क करती है, जिससे द्यौ में रजः कणों की उत्पत्ति होती है। आग्नेय वाष्प के प्रभाव से ये रजः कण अत्यन्त उष्ण होते हैं, किन्तु सोम के प्रभाव से समशीतोण हो जाते हैं। सुद्युम्न नामक रश्मियों के प्रभाव से इन रजः कणों का क्षरण सर्वप्रथम ध्रुवीय भागों पर होता है, जिससे महापर्वतों का निर्माण होता है। कालान्तर में रज कणों की बढती मात्रा के कारण इनकी श्रृंखलायें बनती हैं। पर्जन्य के अस्तित्व में आने के पश्चात् वृष्टि के परिणामस्वरूप पर्वतों से ही जलीय प्रवाह द्वारा नदियों का आविर्भाव होता है। वृष्टि से ही वनस्पति अस्तित्व में आती है, वनों का पर्याप्त विस्तार होता है। पर्वतों के आविर्भाव के समय ही उष्ण रजःकणों में विविध रश्मियों के प्रभावस्वरूप धातुओं की संरचना भी इसी अवस्था में सम्भव होती है। इस प्रकार बाह्यप्रकृति का सौम्य एवं रमणीय स्वारूप उपस्थित होता है।

(18) जीवोत्पत्ति

जीवोत्पत्ति ब्रह्माण्ड की परिपूर्णता को दर्शाती है। ब्रह्माण्ड की रचनाप्रक्रिया की यह अन्तिम कड़ी है। जिस प्रकार पृथ्वी में अज्ञात रूप से पहले से विद्यमान बीजों के कारण वर्षा होने पर स्वतः छः प्रकार की वनस्पति उत्पन्न हो जाती है, ठीक वैसे ही पूर्वसृष्टि के जीवों के अवशिष्ट वासनामय संस्कारों के परिणमन से ही सजीवों की भी उत्पत्ति होने लगती है। सजीवो में सर्वप्रथम स्वेदज उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् अण्डज उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् जरायुज उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य की उत्पत्ति जरायुजों में सबसे अन्त में होती है। इनमें भी सर्वप्रथम केवल प्राणमय कोश वाले, तत्पश्चात् प्राणमय एवं मनोमय कोश वाले, तत्पश्चात् प्राणमय मनोमय एवं विज्ञानमय कोश वाले तथा उनके पश्चात् प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय एवं अन्नमय कोश वाले जन्तु उत्पन्न होते हैं। जीवोत्पत्ति में भी सूर्यादि ग्रहों, नक्षत्रों एवं ताराओं की रश्मियों का पर्याप्त योगदान होता है। मानवोत्पत्ति की प्रक्रिया इस जीवोत्पत्ति की प्रक्रिया से भिन्न है। यह देवप्राण ऋषिप्राण एवं पितृप्राण के युगपद्भाव के परिणमन से सम्भव होती है तथा उत्पत्ति के साथ ही मानव भी अन्य सजीवों की भाँति सूर्यादि ग्रहों नक्षत्रों एवं ताराओं की रश्मियों के प्रभाव से प्रभावित होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अठारह अवस्थाओं के क्रमशः सम्पन्न होने पर हमारा ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आता है। यद्यपि द्यावापृथिवी के मध्य अनेकानेक प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती रहती हैं, किन्तु वे केवल त्रैलोक्य की सक्रियता के निमित्त ही होती हैं। त्रैलोक्य के अतिरिक्त अन्य लोकों में उनकी स्वाभाविक क्रियाएँ यथापूर्व उपक्रमित होती हैं। यह ब्रह्माण्ड कल्पादि में आविर्भूत होता है तथा कल्पान्त में पुनः अवसान अर्थात् महाप्रलयावस्था में निमग्न हो जाता है। महा प्रलयावस्था का प्रारम्भ त्रैलोक्य के कमिक विकास से प्रारम्भ होता है और अन्त में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पुनः स्वयम्भू ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से विलीन हो जाता है। महाप्रलय में उसे संस्कारवश पुनः उत्पत्ति की अपेक्षा बनी रहती है। यही इच्छाशक्ति है, जो स्वयम्भू में संक्रान्त होकर तन्निहित ज्ञानशक्ति के सहारे क्रियान्वयन की ओर बढ़ती है तथा क्रियाशक्ति के माध्यम से फिर से ब्रह्माण्ड को आविर्भूत करती है।